'अहिंसा' पत्र

ग्राहक बनिये और बनाइये

'अहिंसा' नामक पाक्षिक पत्र प्रति पक्ष जयपुर से इस पुस्तक के लेखक पण्डित इन्द्रलाल जी शास्त्री विद्यालङ्कार के सम्पादकत्व में निकलता है। इसका प्रत्येक लेख पढ़ने योग्य होता है। वार्षिक मूल्य पाँच रुपया।

पता—अहिंसा कार्यालय, जयपुर सिटी

'जैनदर्शन' पत्र

भारतवर्षीय दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा का मुख पत्र 'जैन दर्शन' साप्ताहिक श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री न्यायालङ्कार के सम्पादकत्व और श्री बाबू तेजपालजी काला साहित्य मनीषी के उप सम्पादकत्व में शोलापुर से निकलता है, जिसमें धार्मिक सामाजिक लेख बड़े मार्मिक रहते हैं। अवश्य ग्राहक बनकर लाभ उठाइये। वार्षिक मूल्य ३॥) रुपये।

पता—जैन दर्शन कार्यालय
कल्याण भवन, शोलापुर

प्राक्कथन

भारत की मूल संस्कृति और उसका रूप क्या है इस बात को इस पुस्तक में इस पुस्तक के विद्वान् लेखक श्री० पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यावारिधि, धर्मदिवाकर ने अनेक प्रमाणों से सुस्पष्ट किया है जो आद्योपान्त पढ़ने से ही विदित हो सकता है। इस पुस्तक की सभी ओर से मुक्त कंठ से प्रशंसा हुई और इसके पठन प्रचार और प्रसार की आवश्यकता बतलाने के लिए पत्रों का तांता लग गया।

कुछ दिनों पहले ही यह पुस्तक १५०० की संख्या में परम स्नेही उदार चेता सेठ चम्पालालजी पाड्या लालगढ़ वाले सुजानगढ़ की आर्थिक सहायता से प्रकाशित होकर वितीर्ण की गई थी। अब इस पुस्तक की निम्नलिखित महानुभावों ने निम्नलिखित संख्या में प्रतियां खरीद कर जो भारत की मूलसंस्कृति के प्रसार में सहयोग दिया है वह अनिर्वचनीय और अनुकरणीय है। आप सभी महानुभाव धन्यवाद के भाजन होने से सभी की सेवा में सभा की ओर से साभार धन्यवाद है।

५०० श्री० सेठ चन्दीचन्द जी गंगवाल जयपुर
५०० श्रीमती राजरानी लक्ष्मीदेवी बी ए बनारस
२०० श्री० सेठ फतेहलालजी लालूलालजी छाबड़ा सुजानगढ़
निवासी पो० रंगिया (आसाम)

२०० श्री० सेठी आत्मज विश्वनाथमार (आसाम)
२०० श्री० सेठ घासीलालजी पाड्या लालगढ़ वाले सुजानगढ़
२०० श्री० चौधरी चन्द्रदेव सहायता फतहचन्दजी जैन नंबरदार सोहाना (रोहतक)
१०० श्री० सर सेठ हुकमचंदजी नाईट, इन्दौर
१०० श्री लाला परमेश्वरीलालजी भगवानदासजी पाटनी देहली
१०० श्री भवरीलालजी बाकलीवाल जोरहाट (आसाम)
१०० श्री० सेठ बन्शीलालपाल पाटनी दुर्ग (म०प्र०)
१०० श्री० सेठ छोटालाल घेलाभाई जालना
१०० श्री० सेठ मानकचन्द वीरचन्द गांधी फलटन
१०० श्री० सेठ मांगीलाल जी गुलाबचन्द पहाड़िया
१०० श्री० सेठ मामराज फूलचन्द नलवाड़ी (आसाम) (एकत्रित द्रव्य से)
१०० श्री० सेठ राजमलजी कपूरचन्द जी सोगानी पारोली (भीलवाड़ा)

इन प्रतियों के क्रय में श्री० लक्ष्मीचन्द्रजी रूपचन्द्र जी छाबड़ा नलबाड़ी (आसाम) एवं श्री जीवनलालजी पाड्या दुर्ग ने उदार सज्जनता की प्रेरणा की है अतः धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है कि अन्य सज्जन भी मनसा वाचा कर्मणा धर्म प्रसार के कार्य में सहयोग देते रहेंगे।

निवेदक—
निरंजनलाल जैन, धनसुखदास काला
मन्त्री
भारतवर्षीय दिगम्बर सिद्धान्तरक्षिणी सभा,
१६१ कालबादेवी रोड, बम्बई २

चैत्र शु० १३ सं०२०१३
(श्री महावीर जयन्ती)

❀ श्री ❀

भारतीय संस्कृति का मूल रूप

संस्कृति शब्द का अर्थ—

आजकल 'संस्कृति' की बड़ी चर्चा है। सभी लोग संस्कृति की रक्षा के लिए बड़े बड़े नारे भी लगाते हैं। बड़ी बड़ी सभाएँ और बड़े बड़े सम्मेलन भी होते हैं परन्तु संस्कृति क्या है और यह सबकी एक कैसे हो सकती है, इस विषय पर सर्वसम्मत सैद्धान्तिक या तात्विक दृष्टि से कोई विचार नहीं होता। जैसे पहले तथा आज भी 'धर्म' शब्द का व्यवहार और उसकी रक्षा के लिए सभी कहते थे और कहते भी हैं परन्तु सर्वसम्मत तात्विक या सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्म का स्वरूप निश्चित नहीं किया जाता। उसी प्रकार 'संस्कृति' और उसकी रक्षा के लिए सभी की चिल्लाहट है परन्तु यह संस्कृति क्या है और उसकी रक्षा कैसे हो इस पर कहीं भी विचार नहीं किया जाता।

जिस प्रकार धर्म और उसकी रक्षा सभी को प्रिय होने पर भी उसके विभिन्न विचारों के मानने वाले आपस में ही लड़ते हैं और इसी आपस की लड़ाई से आज इस निरपेक्षता का डिंडिम घोष चल रहा है। उसी प्रकार अब निज संस्कृति और उसकी रक्षा का भी यही हाल होने वाला है। धर्म एक ऐसी वस्तु है जो सभी को प्रिय है और इसके बिना वास्तव में काम भी नहीं चलता परन्तु आज जैसा दुर्गति धर्म का हुई है वैसी किसी की नहीं अब धर्म की जगह संस्कृति शब्द का प्रयोग होने लगा है। आज तो जो धर्म निरपेक्षता के आदर्श अथवा मुकुटमणि हैं वे भी संस्कृति और उसकी रक्षा के गीत गाते हैं परन्तु यह संस्कृति है क्या चीज ? इस पर विचार नहीं होता उसी पर थोड़ासा विचार करने के लिये इस पुस्तिका द्वारा प्रयास किया जाता है।

आजकल भारत में धर्म का स्थान संस्कृति ने ले लिया है। वास्तव में देखा जाय तो धर्म साधन है और संस्कृति साध्य है। साध्य की ओर तो लक्ष्य गया है परन्तु उसके साधन से निरपेक्षता दिखाई जाती है। साधन के बिना साध्य की निष्पत्ति कैसे होगी इसका कोई विचार नहीं करता।

अर्थ, शब्द में ही रहता है। अर्थ शब्द से अलग नहीं होता। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का है, धर्म शब्द भी संस्कृत भाषा का ही है। जैसे धर्म शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद 'रिलीजन' कर डाला गया है वैसे 'संस्कृति' शब्द का भी अनुवाद कलचर Culture कर डाला गया है। परन्तु दोनों ही यथार्थ

नहीं है। यदि किसी भाषा के शब्द का अनुवाद किसी दूसरी भाषा में कर दिया जाय परन्तु उसका यथार्थ सार उस भाषा के ज्ञान बिना प्राप्त नहीं होता जिसमें कि वह मूल शब्द है। धर्म शब्द में भी जो भ्रान्तपूर्णता है उसका भी मूल कारण यही है कि इसका अर्थ ही समझ में नहीं आता। जो अंग्रेजी भाषा द्वारा धर्म शब्द का अर्थ रिलीजन करते हैं इनका दृष्टि में रिलीजन 'Religion' शब्द का जो अर्थ होता है वही धर्म का बैठता है। धर्म का जो वास्तविक अर्थ है, रिलीजन का कभी नहीं बैठता।

जिस प्रकार धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिसका कि अर्थ धारण करना है इसी तरह संस्कृति शब्द 'कृ' धातु से बना है। 'कृ' धातु का अर्थ है करना। कृ धातु के सम उपसर्ग और क्तिन प्रत्यय के और कुछ व्याकरणानुसार कार्य हो जाने पर ति रह जाने और सुट लगाने से संस्कृति शब्द बन जाता है। संस्कृति शब्द का अर्थ है उत्तम कार्य अथवा उत्तम कृति अर्थात लौकिक पारलौकिक आध्यात्मिक आर्थिक राजनीतिक सामाजिक आदि सभी कृतियां में उत्तमता तभी आ सकती है जबकि उनमें धर्म का सपुट हो। धर्म चाहे आज विविध रूपों में समझा जाने लगा हो और व्यक्तियों या समुदायों द्वारा विविध नामों से पुकारा जाता हो परन्तु उसका सच्चा और वास्तविक स्वरूप वस्तुस्वभावात्मक उत्तम कर्तव्य पालनात्मक ही है। इसलिये धर्म को साधन और संस्कृति को साध्य बतलाया गया है परन्तु धर्म की उपेक्षा की जाती है। राजनीति में धर्म को असम्बद्ध

बतलाया तथा किया जा रहा है । धर्म की उपेक्षा किये जाने में धर्मो की विभिन्नता तथा धर्मो के लिए लड़ाई झगड़े होना बतलाया जाता है परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इसमें दोष धर्म का न होकर उसके धारण करने वाले मूर्ख पात्रों का है । धर्म कभी असहिष्णुता अथवा संघर्ष नहीं सिखाता वह तो असहिष्णुता और संघर्षों का मिटाने वाला एवं सुख का कारण ही है । कारण कार्य का विरोधी नहीं होता जो कारण कार्य का विरोधी हो उसे कारण समझना या मानना ही भूल है । कहा भी है कि "धर्म सुखस्यहेतु हेतुन विरोधक स्वकार्यस्य'

अर्थात्—धर्म सुख का ही कारण है । कारण कभी अपने स्वकार्य का विरोधक नहीं हुआ करता ।

वस्तु स्वभाव ही धर्म—

वस्तु के स्वभाव का नाम ही धर्म है । जैसे अग्नि का धर्म उष्णता या दाह है । यदि अग्नि कहलाने वाली वस्तु से उष्णता या दाह निकल जाय तो उसका नाम अग्नि नहीं रह सकता । अग्नि का उष्णत्व रूप लक्षण, धर्म या गुण तन्मभूत है । लक्षण अनात्मभूत भी होता है परन्तु वह वस्तु का धर्म नहीं होता। जैसे टोपी वाला आदमी । परन्तु टोपी आदमी का स्वभाव नहीं है । स्वभाव और धर्म एकार्थक शब्द हैं इसीलिए धर्म वस्तु स्वभावात्मक ही होता है, वह वस्तु से कभी भिन्न नहीं रह सकता । जो धर्म धर्मी से भिन्न हो जाय वह उस धर्मी का धर्म नहीं ।

आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नहीं परन्तु यह बात व्यवहार विरुद्धता के कारण बननी नहीं। चोरी से घृणा करने वाले को चोर से घृणा करनी ही पड़ेगी। जो चोरी से घृणा करता रहे और चोर को छाती से लगाये तो यही माना जायगा कि इस व्यक्ति को चोरी से भी घृणा नहीं है। गुण से प्रेम तभी माना जा सकता है जब कि गुणी से प्रमोद भाव हो। गुणी को तो डण्डे मारते जाना और साथ में यह कहते जाना कि मेरा तो गुण से प्रेम है, एक प्रकार का भ्रम चला है। इसलिए यह कहना चाहे भावुक जनता के सामने आदर्श वाक्य समझा जाता हो परन्तु अनुभव और विज्ञ जनता पाप से घृणा और पापी से प्रेम की बात तो प्रवंचना और छद्म ही समझेगी। जो लोग इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करते हैं, उनका आन्तरिक अभिप्राय सन्तोष होते हुए भी अपने आपको प्रेमभाजन और विश्वसनीय सिद्ध करना मात्र होता है।

जो मानव का मानवता है वही उसका धर्म है परन्तु मानवता क्या है इसी पर आज विवाद या संघर्ष है। वास्तव में मानवता का अर्थ है अपने ही समान दूसरा को भी समझना, स्वयं जीना और दूसरों को जीने देना। जिसे लोग पशु कहा करते हैं, हम भी उसे पशु इसीलिए कहते हैं कि वह अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। यदि मानव भी समाजपरक या देश परक न होकर स्वपरक ही हो जाय तो चाहे उसका नाम

या मनुष्य हो परन्तु इसके कर्म पशु के समान ही होते हैं, इसी लिए उसमें पशु से विशेषता नहीं। मानव समानतरवर या देश परक आवरण में तन बन सकता है पर इसे परलोक और आत्मा, मानव देह में भिन्न पदार्थ की सत्ता में विश्वास हो। समाज और देह को मानव समाज तक ही सीमित समझना भूल है। संसार के प्रत्येक प्राणीमात्र को समाज या देश समझना, सच्चा समाज ज्ञान या देश ज्ञान है। आज का मानव तो अपने अतिरिक्त किसी दूसरे का हित जानता ही नहीं, वह मानव हत्या से भी थोड़ा सा इसलिए भयभीत है कि उसमें राज्य से शारीरिक दण्ड मिलता है। अगर मानवहत्या में शारीरिक दण्ड मिलने का भय न हो तो आज का मानव कहलाने वाला प्राणी अपने स्वार्थ के लिए अपने स्वार्थ के विरोधी मानव को भी घास फूस की तरह मौत के घाट उतार दे क्या इसका नाम मानवता है?

मानवता में परहिंसा को (चाहे वह छोटे से प्राणी की हो) स्थान नहीं उसमें असत्य चौर्य, व्यभिचार और अति लोभ को स्थान नहीं। हिंसा असत्य चौर्य, व्यभिचारातिलोभ का एक देश त्याग मानवता और सर्व देश त्याग आदर्श मानवता है। मानवता मानव का धर्म है। मानवता शब्द संस्कृत भाषा का है। 'मानवस्य धर्म मानवता' यह इसकी व्युत्पत्ति है। धर्मी से धर्म अलग हो जाय तो यह फिर धर्मी ही नहीं रह सकता।

धर्म का रूप तो वही है परन्तु लोगों ने इसे बिगाड़ दिया मात्र में मानव को ही मान्य समझ बैठना यह भूल हानी आरही

है। साधन को साध्य का रूप दे देना व्यावहारिक दृष्टि से अन्य भी है। परन्तु उसे ही वास्तविक रूप मान लेना तो भयावह ही हो जाता है। पूजा पाठादि स्वयं धर्म नहीं किन्तु धर्म के साधन हैं। साम्प्रदायिकता भी धर्म का साधन ही है या धर्म रूप साध्य के सिद्ध करने के लिए अनेक विभिन्न मनोनीत प्रकार हैं। उन विभिन्न प्रकारों या मनोनीत साधनों को साध्य मान कर एवं उनका पारस्परिक विरोध का कारण मान साध्य से भी निरपेक्षता कर लेना देश को रसातल में ले जाना है। धर्म निरपेक्षता ही विदेशों में घोर हिंसादि पापों का कारण है। प्रतिदिन गाजर मूली की तरह मानव जाति एवं प्राणियों के विध्वंस में धर्म निरपेक्षता ही कारण है। आज तो भारत भी पाश्चात्य वायु से ही प्रभावित है अतएव इसमें भी प्राणिमात्र से धर्मसापेक्षता हट गई है।

राजनीति का जीवन चर्या से धर्म का अलग रूप देने से यह जीवनचर्या केवल ऐहिक और लोकायतिक बन जाती है और जब ऐसा होता है तो मानव समाजपरक या स्वपरपरक न रह कर स्वार्थ परक बन जाता है और इसका परिणाम समस्त देश को कटु भुगतना पड़ता है। वास्तव में मानव की मानवता ही जो कि हिंसा असत्य चौर्य व्यभिचारातिलोभ के त्याग स्वरूप है मानवीय संस्कृति है। मानवता और मानवीय संस्कृति दोनों एक ही पदार्थ हैं। भारतेतर देशों में तत्स्वरूपा मानवीय परिणति न होने से भारतीय संस्कृति सदैव उन देशों से भिन्न रही है। उक्त स्वरूप

सस्कृति भारत में ही थी और बहुत कुछ चले जाने पर भी, है, एव रहेगी भी। इसीलिए प्रत्येक भारतीय को अपनी सस्कृति का अभिमान रक्षा करनी चाहिए।

भारतीय सस्कृति का यह स्वच्छ और विशद रूप तभी स्थिर और सुरक्षित रह सकता है जबकि भारतीय मानव में पारलौकिक निष्ठा और देह से पृथक् आत्मसत्ता मे विश्वास हो इस विश्वास के बिना उक्त स्वरूप मानवता अथवा मानवीय सस्कृति या भारतीय सस्कृति नहीं हो सकती। पारलौकिक निष्ठा और देह से पृथक आत्मसत्ता मे विश्वास के बिना मानव कभी समाजपरक या देशपरक नहीं हो सकता अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि पारलौकिक निष्ठा और देह से पृथक आत्मसत्ता में विश्वास का नाम ही वास्तव मे भारतीय सस्कृति है।

धर्म को धर्मी से पृथक् मानने का परिणाम —

धर्मी से धर्म को पृथक मान बैठने का परिणाम ही ऐटोमिक बम, हाइड्रोजन बम सरीखे प्रबल सहारक शस्त्रों का निर्माण होना और इनके द्वारा अनन्त प्राणियों का सहार होना है। हिंसा झूँठ, चोरी, व्यभिचार और अतिलोभ इनको केवल असामाजिक तत्व मानना ही महान् भूल है। इनके केवल असामाजिक तत्व मानते रहने से सामाजिक हानि लाभ की चिन्ता रहती है। जो स्थिर तथा विशेष उपादेय नहीं होती। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के आगे सामाजिक चिन्ता नगण्य हो

जाती है। ये यदि अहिंसा सत्य आदि हमारे धर्म या संस्कृति के रूप में होते हैं तो हमें इनकी रक्षा की आन्तरिक चिन्ता रहेगी। हमारे पूर्वज महर्षियों ने तो यहां तक कहा है कि हमारा प्रत्येक लौकिक व्यवहार धर्म से समन्वित होना चाहिये। लौकिक व्यवहार का धर्म से समन्वय बैठे बिना अहिंसादि गुण जीवन चर्या में उतरते नहीं। जब प्रत्येक मानव की जीवनचर्या अहिंसा सत्यादि से समन्वित होकर चलती रहे तो संसार में नहीं संघर्ष और क्लेश का नाम भी सुनाई न दे। वास्तव में अहिंसा सत्यादि तत्व जीवनचर्या में ओत प्रोत होना चाहिये। मानव मात्र का प्रत्येक लौकिक व्यवहार अहिंसा सत्यादि से समन्वित हो जाय तो न तो इतने युद्धादि की आवश्यकता पड़े और न चोर बाजारी घूसखोरी आदि को ही प्रश्रय मिले।

आज जो भारत में चोर बाजारी और घूसखोरी आदि की शिकायत है यह सब धर्म को कर्म से पृथक मान लेने का ही परिणाम है। बहुत से लोग घंटों तक एकान्त में बैठकर भगवान् का भजन किया करते हैं। लोग भी उनको भक्त समझते हैं परन्तु जब उनके कर्म देखे जाते हैं तो उनसे अत्यन्त घृणा होती है क्योंकि वे निन्दनीय होते हैं। जिसका कारण यही है कि लोगों ने भगवान् के नाम लेने या भजन करने को ही धर्म समझ लिया है। वास्तव में भगवान का नाम लेना मात्र धर्म नहीं है, यह धर्म का साधन तो हो सकता है परन्तु साध्यरूप धर्म नहीं। इसलिए हमारे पूर्वज महर्षियों ने कहा है कि आचार 'प्रथमो धर्म' अर्थात्

सर्व प्रथम धर्म आचरण ही है। अहिंसा सत्यादि ही शुद्धाचरण हैं। हिंसा करने वाला झूठ बोलने वाला चोरी करने वाला, व्यभिचारी तथा अतिलोभी होना ही दुराचारीपन है। यदि ये दुराचार नहीं तो फिर दुराचार और क्या होंगे?

वास्तव में संस्कृति और धर्म में कोई अन्तर नहीं। संस्कृति और सदाचार दोनों एकार्थक हैं। 'संस्कृति का अर्थ सम्यक् कृति है। मानव की सम्यक् कृति ही उसका धर्म है और वही उसकी करने पर धर्म और संस्कृति भी है। सूक्ष्म विचार और विवेचन संस्कृति भिन्न पदार्थ नहीं।

पाश्चात्य देशों में संस्कृति शब्द का अर्थ कल्चर किया जाकर उसे बाह्य आडम्बरों में घसीटा गया। या यों कहिये कि अंग्रेजी के कल्चर शब्द का अर्थ 'संस्कृति करके' भारतीय मानव गुमराह हो गया। इसी का फल है कि हमारे बड़े बड़े नेता भी आज संस्कृति शब्द का अर्थ न समझ कर पाश्चात्य देशों की नकल करने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं।

अर्थ शब्द से भिन्न नहीं होता। शब्दों में भी रूढ शब्द नहीं किन्तु यौगिक। यौगिक शब्द सदैव अर्थानुसारी और अर्थ सदैव यौगिक शब्दानुसारी ही होता है। 'कलचर शब्द हमारा नहीं यदि हमने इसका अनुवाद 'संस्कृति' किया है तो हम कलचर के अर्थ पर नहीं किन्तु संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ की ओर ही देखना पड़ेगा जब संस्कृति शब्द सम् उप सर्ग पूर्वक कृति शब्द से बना है तो संस्कृति शब्द का अर्थ 'उत्तम कार्य' यही ठहरता है। उत्तम कार्य और सदाचार में

अन्तर नहीं। सदाचार का नाम ही धर्म है इसलिए धर्म और संस्कृति में अन्तर नहीं।

हिंसा अहिंसा

हिंसा उत्तम कार्य नहीं। यदि हिंसा उत्तम कार्य है तो कोई हमारी हिंसा करना चाहता है तो वह उसका कार्य फिर बुरा क्यों? निरपराध की हिंसा तो सर्वथा ही बुरी है। सापराध की भी सर्वथा हिंसा तो बुरी ही है। यदि कोई पशु या मानव किसी को मारता है तो पशु में तो पशुता है ही परन्तु मानव में मानवता कहां रही? जिस प्रकार किसी को मारने से उसने मानवता से हाथ धोया तो प्रतिहिंसा करने वाले ने मानवता की रक्षा कैसे की? सापराध को अपराध की भावना और प्रवृत्ति से छुड़ाना मानव की मानवता है, नकि जानसे मार डालना। भूतपूर्व अनवदर्शी राज्यों में बड़े से बड़े हत्यारे अपराधी को भी फांसी पर नहीं लटकाया जाता था। पहले यहाँ मृत्यु दण्ड वर्जित था जो उस अंशों में मानवता का द्योतक था। आज भारत में सर्वथा भारतीय राज्य हो जाने पर भी मृत्यु दण्ड प्रचलित हो गया जो अंग्रेजों के राज्य में भी प्रचलित न था। वास्तव में देखा जाय तो हम संस्कृति से बहुत दूर चले जा रहे हैं और संस्कृति रक्षा की रटन लगाते जा रहे हैं जो हमारा कितना छद्मपूर्ण व्यवहार है?

यद्यपि अंग्रेज लोग पूर्वोक्त वास्तविक मानवता से बहुत दूर थे तथापि वे विदेशी होने के कारण अपनी संस्कृति भारत में प्रचलित करने से डरते थे। वे सन् १८५७ के गदर के इतिहास

के अभिशाप से भुक्तभोगी थे इसलिये उन्होंने भारत मे मानवता के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष मोल नहीं लिये। उन्होंने मछली उद्योग और मछली भक्षण के लिये प्रत्यक्ष पद्धति से भारतीयों को कभी नहीं कहा। उन्होंने मांस का उद्योग नहीं चलाया, न मांस बाजार स्थापित कर उसकी रिपोर्ट निकाली गई न मांस खाने का सर्वसाधारण मे प्रचार ही किया जैसा कि आज किया जा रहा है। भारत में अंग्रेजी राज्य होते हुए भी देशी राज्यों में कुत्तों आदि की हत्या नहीं होती थी। और तो क्या? अमावस्या एकादशी आदि अनेक तिथियों में जीव हिंसा बन्द रहती थी। राजा लोग अनेक अवसरों पर जीव हिंसा बन्द रखने के फरमान भी जारी किया करते थे परन्तु भारत मे भारतीयों का सर्वतोमुखी शासन होने पर भी पशुओं मछलियों को मारकर खाने का उपदेश देकर और प्रयोग किये जाकर जनता को प्रोत्साहित किया जाता है। बड़े-बड़े मछली उद्योग के केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं। बन्दर आदि प्राणियों को भी मौत के घाट उतारा जा रहा है और भी अनेक संस्कृति विरोधी दुष्कृत्य कार्य हो रहे हैं। फिर भी संस्कृति रक्षा के लिए बड़े-बड़े सम्मेलन बुलाये जाकर भावुक जनता की आँखों में सरासर धूल झोंकी जा रही है।

स्वर्गीय गांधीजी अहिंसा का नारा लगाते थे। यह भी कहा जाता है कि अहिंसा के बल पर ही राज्य शासन मिला और भविष्य में भी अहिंसा को ही मुख्य स्थान दिया जायगा परन्तु आज स्वतन्त्र भारत मे भी पहले से अधिक हिंसा का साम्राज्य

है। जितने अंग्रेजी साम्राज्य में पशु कटते थे उससे कई गुने आज कट रहे हैं। मानव के प्राणों का भी आज कोई मूल्य नहीं है। जरा जरा सी बात पर गोलियाँ चलाई जाकर मानवों को मौत के मुँह में धकेल दिया जाता है। इन सब बातों और घटनाओं को देखकर विवश हो यही कहना पड़ता है कि भा[illegible] संस्कृति और उसकी रक्षा के बुलन्द नारे लगाते हों परन्तु [illegible] यह भी निश्चित नहीं कि वास्तव में संस्कृति है क्या चीज ?

सत्य–असत्य

जीवन चर्या में सत्यता का व्यवहार भी वास्तविक [illegible] संस्कृति है परन्तु सत्य कोसों दूर जा रहा है। कानूनी [illegible] दृष्टि से तो सत्यता और भी अधिक [illegible] जा रही है। [illegible] सिविल या क्रिमिनल मामले में वकील के पास [illegible] रूप ही दूसरा बन जाता है। यद्यपि वर्तमान [illegible] सत्यता का पता लगाने के लिए कानून बना [illegible] परन्तु अनेक युक्तियों और बुद्धि कौशल से [illegible] का काम भी कानून बहुत अधिक करता है। [illegible] कानून और न्याय में बड़ा अन्तर है। कानून [illegible] के बाद तमाम लेन देन खारिजुल मियाद हो [illegible] परन्तु न्याय की दृष्टि से तो नहीं हो सकता। [illegible] २०१५ दिन के ऊपर एक दिन चढ़ जाने पर [illegible] आजकल के कानून की दृष्टि से अनुचित [illegible] न्याय की दृष्टि से तो कदापि नहीं हो सकता। यह [illegible]

हुए भी जानते हुए भी आज कानूनी शिक्षण का प्रचार पर्याप्त मात्रा में बढ़ता जा रहा है और उसका रूप ऐसा बनता जा रहा है कि मानव समाजवादी या देशवादी न बनकर व्यक्तिवादी बनता जा रहा है यह व्यक्तिवाद ही हमें संस्कृति शून्यता की ओर ले जाने वाला कुतत्त्व है। वर्तमान अदालतों और कानून मातात्रों की जो प्रणाली है उससे न्याय प्राप्त हो जाता है या नहीं, यह तो एकान्त से नहीं कहा जा सकता परन्तु वह न्याय हो चाहे अन्याय? दोनों ही बहुत महंगे पड़ते हैं। कोर्ट फीस, वकीलों का मेहनताना और निर्णय में समय का लम्बापन इतना भयंकर है कि न्याय के लिए अदालत में गया हुआ व्यक्ति भी बरबाद हो जाता है और वह तन्मय या आगे भी सारी संस्कृति भूल जाता है सत्यासत्य निर्णय प्रणाली में आई हुई इन दिक्कतों से या तो अन्याय अथवा असंस्कृति को चुप चाप सहन कर लेना पड़ता है या न्याय नीति को तिलांजलि के साथ-साथ उसे बरबाद हो जाना पड़ता है और वह पीछे असंस्कृत हो जाता है।

चौर्य-अचौर्य

जीवन चर्या में अचौर्य कितना उतर रहा है इस बात का अनुमान तो सर्वत्र व्याप्त और जिसकी शिकायत सभी को है, चोर बाजारी से ही लग जाता है चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है घूसखोरी से, घूसखोरी आजकल इतनी बढ़ गई है

कि सरकार को टैक्स न दे सके। आय छुपाने के लिए कानूनी चक्कर को काम में लाना ही अपराधों में वृद्धि और तीव्रता को घोषित करता है। आज हमारे प्रत्येक व्यवहार में चौर्य प्रयोग देखने में आता है। असली माल में नकली माल मिलाना, कम तोलना, लेन देन के परिमाण मापने में अन्तर, घूसखोरी, कालाबाजार, चौंयान्तर्गमन आदि अनेक काम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष चौर्य से है। लोगों ने समझ रखा है कि संसार में चोरी और असत्य के बिना काम नहीं चलता। परन्तु यह धारणा गलत है। जब एक आदमी ऐसा करके तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ दूसरे की असावधानी से उठा लेता है तब दूसरे भी ऐसा करने लगते हैं और पीछे तो धीरे धीरे लोगों की यह धारणा भी बन जाती है परन्तु यह धारणा गलत और देश को नष्ट करने वाली है। वास्तव में लाभ में कारण यह असत्य और चौर्य न होकर मानने वाले व्यक्ति की मूढ़ता है। यदि उसमें इस असत्य और चौर्य को समझ लेने की बुद्धि और शक्ति हो तो उसे कभी लाभ नहीं मिल सकता।

इन सब सूक्ष्म बातों के अतिरिक्त आज समूचे देश में ही चोरी डकैतियां ग्रस्त हो रही हैं। एक तरफ तो ऐसी स्थिति है कि जिनके पास संचित धन है वे लोग उसे परोपकार में अंश मात्र भी लगाना नहीं चाहते और दूसरी ओर यह स्थिति है कि चोर और डाकू लोग हिंसात्मक प्रवृत्ति से निर्दयता के द्वारा परन्तु

धनिक वर्ग अपने मन को आवश्यकता वाले पात्रों में वितीर्ण न कर संचित ही रक्खें या केवल अपने ही उपयोग में लें, यह भी कम निन्दनीय नहीं है। पात्र में त्याग और परिजनों के साथ धन भोग करना मानव का सुलक्षण है परन्तु ऐसा न करने से आज देश दुर्दशाग्रस्त होता जाकर अपनी संस्कृति से शून्य होता जाता है।

जैसे एक जगह इकट्ठा हुआ खून महा रोग की गणना में आता है उसी प्रकार एक ही जगह धन का एकत्र हो जाना भी महान् सामाजिक और नैतिक अपराध है। जिस प्रकार शरीर में रक्त वृद्धि अनुचित नहीं उसी प्रकार धन वृद्धि भी अनुचित नहीं परन्तु जिस प्रकार बढ़ा हुआ खून सारे शरीर में यथोचित परिमाणानुसार बँटता रहे तो वह शरीर स्वस्थ रहता है उसी प्रकार बढ़ा हुआ धन भी प्राणियों में यथोचित पहुँचना ही चाहिए। जैसे एकत्र जमे हुए रुधिर के पिण्ड को आपरेशन द्वारा काटना पड़ता है उसी प्रकार एकत्र जमा किये हुए धन को लुटेरे डाकू चोर या सरकार ले लेते हैं इसलिए उचित यही है कि एकत्रित धन का यथोचित अन्यान्य प्राणियों के हितार्थ विनियोग किया जाय, यही हमारे देश की संस्कृति है परन्तु आज देश कहाँ और किधर जा रहा है? इसका हमें पता नहीं। सरकार भी नये नये टैक्स लगाकर एवं जो लगे हुए हैं उन्हें बढ़ाकर कम अन्याय नहीं कर रही है।

❀—❀

राजनीति को चिपटी न रहने देना। अर्थात राजनीति के प्रवर्तक राजा या शासक को चाहिए कि वह किसी सम्प्रदाय विशेष का मानने वाला होते हुए भी न्याय शासन आदि में सबके साथ समान व्यवहार करे। यह पहले बतलाया जा चुका है कि किसी सम्प्रदाय विशेष का नाम धर्म नहीं, धर्म तो हिंसा झूँठ, चोरी आदि से बचाता है। सम्प्रदाय विशेष भी इन पापों से बचने में अपनी अपनी प्रणाली और पद्धति से साधन हो सकते हैं परन्तु स्वय धर्म रूप साध्य नहीं। जब इन वास्तविक धर्मों अर्थात् हिंसा असत्य चोरी आदि के त्याग से भी राजनीति को पृथक् माना गया तो ससार में पापों की वृद्धि होती चली गई। ब्रह्मचर्य भी मानव का धर्म है परन्तु ब्रह्मचर्य से विपरीत व्यभिचार को निदेशों में सामाजिक अपराध का थोड़ा बहुत रूप भले ही दिया हो परन्तु पाप नहीं माना गया।

योगीजन जैसा ब्रह्मचर्य रखते हैं वैसा ब्रह्मचर्य सभी रखने लगे तो फिर योगीजन भी कैसे पैदा हों? इसलिए वे तो ब्रह्मचर्य के आदर्श और आत्मसाधन के बड़े पुजारी होते हैं परन्तु वैसी अवस्था तक पहुँचने अथवा कम से कम उसे आदर्श मानकर उसका यशोगान करने के लिए एक देश ब्रह्मचर्य का पालन करना भी हमारी भारतीय संस्कृति है।

कन्या का सम्बन्ध स्थिर होकर

होना एक देश ब्रह्मचर्य है।

होकर परम धार्मिक व धन

से सन्ति लाभ तो हो जाता है परन्तु वह अधार्मिक है इसलिए धार्मिक अर्थात् सांस्कृतिक सन्तति लाभ यथोचित विवाह से ही होता है। अनर्गल मैथुन कर्म से रति लाभ हो जाता है परन्तु क्लिष्टता से, अक्लिष्टता से नहीं। विवाह से अक्लिष्ट रति लाभ होता है। केवल मैथुन से चारित्र्य और कुल की उन्नति नहीं होती परन्तु विवाह से चारित्र्य लाभ के अतिरिक्त संस्कार युक्त कुल की वृद्धि होती है। केवल मैथुन कर्म में उपकारकों के प्रति कृतज्ञता और सत्कारादि प्रकाशित करने के लिए सामाजिकता अथवा गार्हस्थ्य नहीं बनता किन्तु विवाह में भावी संस्कारों की स्थिति के लिए ऐसा रूप बन जाता है कि यह एक युगल जो कि जातीय संस्कार विशेष से बना है संयुक्त परिवार प्रणाली और विचार सरणि से उपकारकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन और उनका आतिथ्य भी करता रहता है जिससे वह संस्कृति की धारा अविच्छिन्न रूप से बनी रहती है।

विवाह का क्षेत्र मानव के लिए वही होना चाहिए जिससे नष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो परन्तु आजकल भारत में भी ऐसे बहुत लोग हो गये हैं जो जानवरों (कुत्तों घोड़ा आदि) का मेल मिलाने में तो बड़ी सावधानी रखते हैं परन्तु मानवों का जोड़ा मिलाने में कोई विचार ही नहीं। इस बात को एक अंग्रेज विद्वान् डारविन ने कहा कि—

'Man sees With Scrupulous care the character [illegible]ree of his Horse, Cattle

Dogs, before he matches them, but when he comes to his own marriage, he rarely or never takes such care

अर्थात्—मनुष्य अपने घोड़ों, मवेशियों और कुत्तों का जोड़ा मिलाने के पहले उनके स्वाभाविक गुण और नसल आदि अनेक बातों पर बड़ी विचार शक्ति से काम लेता है परन्तु जब स्वयं या अपनी सतान के विवाह का अवसर आता है तो वह इन बातों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता।

आज तो भारतीय संस्कृति की अपने को पुजारिन बतलाने वाली स्वयं कांग्रेस अथवा उसकी सरकार ने 'स्पेशल विवाह' 'तलाक' 'उत्तराधिकार' आदि कानून बना दिये हैं जिसमें जाति धर्म और देश की एकता आदि के समस्त प्रतिबन्धों को जिनमें संस्कृति का तत्व सन्निहित है हटा दिये गये हैं। इस कानून का आधार केवल स्त्री पुरुष की मर्जी है।

समस्त संस्कृति का मूल तत्व स्त्री और पुरुष की चर्या पर अवलम्बित और आधारित है। यदि स्त्री और पुरुष के मिलने से पहले उनकी संस्कृति समान और आर्यत्व की पोषक और निर्वाहक है तो उनके संयोग से उत्पन्न होने वाली संतति भी वैसी ही होगी और यदि उनकी संस्कृति पारस्परिक विभिन्न और आर्येतर नाशक है तो भावी संतति भी वैसी ही होगी। इस प्रकार संस्कृति की अविच्छिन्न और निर्विच्छिन्न परम्परा का मूल स्रोत स्त्री पुरुष के संयोग अथवा विवाह से चलता है। संस्कृति का मूल

स्रोत कुल परम्परा से है और कुल की उन्नतता और नीचता का सम्बन्ध बनता है नारी से, क्योंकि पुरुष बीज रूप होता है और नारी क्षेत्र रूप। बीज तो यदि अयोग्य स्थान में डाला जायगा तो जितना बीज डाला गया है उतना ही नष्ट होगा परन्तु अयोग्य बीज से क्षेत्र बहुत समय अथवा सदा के लिए भी बिगड़ सकता है इसलिए क्षेत्र शुद्धि बनी रखने की बड़ी आवश्यकता है। समस्त भारतीय संस्कृति इस जातिकुल शुद्धि में ही अन्तर्निहित है परन्तु खेद है कि स्वयं भारतीय सन्ततियाँ और वे भी जिनके हाथ में समस्त भारतीय शासन सत्ता या सूत्र और तन्त्र है पाश्चात्य चाकचिक्य में पड़कर स्त्री और पुरुष के समानाधिकार के नाम पर इस क्षेत्र शुद्धि बीज रक्षा को नष्ट भ्रष्ट कर भारत को अन्य विजातीय संस्कृति का क्रीतदास बनाते जा रहे हैं।

भारतीय नीतिकारों ने लिखा है कि—"वंशविशुद्धयर्थमनर्थ परिहारार्थम् स्त्रियों रक्ष्यन्ते, न भोगार्थम्।" भावार्थ—स्त्रियों की रक्षा वंश की विशुद्धि और अनर्थ के परिहार के लिए की जाती है, न कि भोग के लिए। (नीतिवाक्यामृत)

महान् नीति शास्त्र के उपदेष्टा आचार्य गुरु ने भी कहा है कि—

वंशस्य च विशुध्यर्थं तथानर्थक्षयाय च।
रक्षितव्याः स्त्रियो नित्यं न भोगाय च केवलम्॥

अर्थ—ऊपर के आशयवाला ही है।

यह तो है भारतीय नीतिकारों का मत, परन्तु आज उनकी अवहेलना की जाकर नारी जाति को सर्वथा अरक्षित, उद्‌ण्ड और उच्छृंखल बनाने में अहमहमिका से प्रगति दिखलाई जा रही है। जो भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति के विनाश के ही चिन्ह हैं, उत्थान और उन्नति के नहीं।

भारतीय नीतिशास्त्रों में पूर्वज महान् विद्वानों ने नारी जाति के लिए अधिक काम शास्त्र का ज्ञान तथा अभ्यास भी वर्जित ही ठहराया है और महिलाओं के कामशास्त्र के अधिक ज्ञान तथा अभ्यास को राज्यनाश तथा कुल नाश में ही कारण बतलाया है।

'नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीया स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते" सोमदेवाचार्य—

अर्थ—स्त्रियों को काम शास्त्र की शिक्षा में अधिक प्रवीण और व्युत्पन्न नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वभाव से भी कामशास्त्र का उत्तम ज्ञान स्त्रियों को छुरी में पड़े हुए पानी की बूँद के समान विषम बना देता है अर्थात नष्ट कर देता है।

आज तो वे नवयुवक जिनके हाथों समूचे देश की उत्थान और पतन की समस्या को हल करने की बागडोर है पाश्चात्य देशों की नकल करते हुए स्त्रियों को निःसंकोचता से साथ लिए फिरते हैं, उन्हें साथ लेजाकर सिनेमा दिखलाते हैं, उन्हें मोहक वेशभूषा पहनाते हैं, उन्हें तितलियाँ सी बना कर प्रदर्शन करते

हैं, इन सब बातों से यही प्रतीत होता है कि हमारे देश की संस्कृति नष्ट भ्रष्ट होती जा रही है और संस्कृति विनाश के साथ हम और हमारा देश भी अगाध गर्त की ओर जा रहे हैं।

भगवान् ऋषभदेव, भरत और भारत—

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि हमारे देश का जो नाम भारत है वह 'भरत' चक्रवर्ती से पड़ा है। भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव के सबसे बड़े पुत्र थे। भगवान् ऋषभदेव के पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। नाभि राजा मनु थे। मनु से ही मानव शब्द बना है। वैदिक धर्म में भगवान् ऋषभदेव को २४ अवतारों में से आठवाँ अवतार माना गया है। ऋषभदेव को वेदों में भी बड़ी भक्ति से स्मरण किया गया है, जैसे—

अंहोमुच ऋषभं यज्ञियाना
विराजन्त प्रथमध्वराणाम्।
अपा न पात न पात मश्विनाहुवे
इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोज।
अथर्ववेद का० १६-४२-४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त, अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री ऋषभ देव का मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि, इन्द्रियबल और आत्मबल प्रदान करें।

ऋग्वेद में भी भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है—

यह तो है भारतीय नीतिकारों का मत, परन्तु आज उनकी अवहेलना की जाकर नारी जाति को सर्वथा अरक्षित, उद्दंड और उच्छृंखल बनाने में अहमहमिका से प्रगति दिखलाई जा रही है। जो भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति के विनाश के ही चिन्ह हैं उत्थान और उन्नति के नहीं।

भारतीय नीतिशास्त्रों में पूर्वज महान् विद्वानों ने नारी जाति के लिए अधिक काम शास्त्र का ज्ञान तथा अभ्यास भी वर्जित ही ठहराया है और महिलाओं के कामशास्त्र के अधिक ज्ञान तथा अभ्यास को राज्यनाश तथा कुल नाश में ही कारण बतलाया है।

'नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीया स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते' सोमदेवाचार्य—

अर्थ—स्त्रियों को काम शास्त्र की शिक्षा में अधिक प्रवीण और व्युत्पन्न नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वभाव से भी कामशास्त्र का उत्तम ज्ञान स्त्रियों को छुरी में पड़े हुए पानी की बूँद के समान विषम बना देता है अर्थात नष्ट कर देता है।

आज तो वे नवयुवक जिनके हाथों समूचे देश की उत्थान और पतन की समस्या को हल करने की बागडोर है पाश्चात्य देशों की नकल करते हुए स्त्रियों को निर्लज्जता से साथ लिए फिरते हैं, उन्हें साथ लेजाकर सिनेमा दिखलाते हैं, उन्हें मोहक वेशभूषा पहनाते हैं, उन्हें तितलियाँ सी बना कर प्रदर्शन करते

है, इन सब बातों से यही प्रतीत होता है कि हमारे देश की संस्कृति नष्ट भ्रष्ट होती जा रही है और संस्कृति विनाश के साथ हम और हमारा देश भी अगाध गर्त की ओर जा रहे हैं।

भगवान् ऋषभदेव, भरत और भारत—

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि हमारे देश का जो नाम भारत है वह 'भरत चक्रवर्ती से पड़ा है। भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव के सबसे बड़े पुत्र थे। भगवान् ऋषभदेव के पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। नाभि राजा मनु थे। मनु से ही मानव शब्द बना है। वैदिक धर्म में भगवान् ऋषभदेव को २४ अवतारों में से आठवाँ अवतार माना गया है। ऋषभदेव को वेदों में भी बड़ी भक्ति से स्मरण किया गया है, जैसे—

अहोमुचं ऋषभं यज्ञियानां
निराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातं न पातं अश्विनाहुवे
इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोजः।
अथर्ववेद का० १६–४२–४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त, अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभ देव का मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि, इन्द्रियबल और आत्मबल प्रदान करें।

ऋग्वेद में भी भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है—

अनमाण ऋषभ मद्रनिन्ह गृहस्पति
वर्षेया नव्यमर्के

ऋ म १ मू १६० मं १

अर्थात्—मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ को पूजा सारफ मन्त्रा द्वारा वर्धित करो व स्तोता को नहीं छोड़ते।

भगवान ऋषभदेव के पहले भोग भूमि थी। सभी दस प्रकार के कल्पवृक्षों से समस्त प्रकार यथेष्ट सामग्री प्राप्त करते थे, भगवान् ऋषभदेव ने ही समस्त कर्मों की स्थापना की। यही बात वैदिक धर्म के विष्णु पुराण में भी मिलती है।

"शास्त्रों में केवल भारतवर्ष को ही कर्म भूमि माना गया है बाकी सब देश केवल भोग भूमि हैं। भारत में जन्म लेने के लिए देवता भी तरसते हैं"।

गंगाशंकर मिश्र एम ए द्वारा लिखित भारतवर्ष
का इतिहास पृष्ठ ६

कुछ लोगों का कहना है कि शकुन्तला और दुष्यन्त के पुत्र भरत से इस देश का नाम भरत पड़ा परन्तु यह बात ऐतिहासिक दृष्टि तथा वेद पुराण और भागवत से भी सिद्ध नहीं होती भागवत तथा अनेक पुराणों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत से ही इस देश का नाम भारत पड़ा है।

श्री भागवत के पांचवें स्कंध अध्याय २६ में ऋषभदेव भरत का वर्णन इस प्रकार आया है कि "नव महानी ने यह

देखा कि मनुष्य सर्ग में वृद्धि नहीं हो रही है तो उन्होंने स्वयं मनु और मतरूपा को उत्पन्न किया जिनसे प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ। नाभि ने मरुदेवी के साथ विवाह किया और ऋषभदेव इनके पुत्र हुए। ऋषभदेव ने जयन्ती नामक कन्या से विवाह किया इनके सौ पुत्र हुये। सबसे बड़े पुत्र भरत थे। ऋषभदेव ने बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर सन्यास ले लिया। ऋषभदेव नग्न दिगम्बर वेष में रहने लगे। इन पर लोग मल मूत्रादि तक फेंक देते थे परन्तु वे इन उपसर्गों का ध्यान नहीं करते थे। उनका क्रिया-कर्म बहुत कठिन हो गया था। शरीरादिक छोड़ कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव सदैव परमानन्द का अनुभव करते हुए कोङ्क वैङ्क कुटक आदि देशों में गए और कुटकाचल पर्वत के जङ्गलों में पागल की तरह नग्न होकर विचरने लगे और वहीं बांसों की रगड़ से आग लग जाने पर भस्म हो गये। आगे भागवतकार लिखते हैं कि भगवान् ऋषभदेव के उपदेश को सुनकर अर्हन् नाम का राजा अपने धर्म को छोड़कर अपने आर्हत धर्म (जैन धर्म) का उपदेश करेगा जिससे लोग वेद विरुद्ध आचरण करेंगे। यह ऋषभावतार रजोगुण से व्याप्त लोगों को कैवल्य सिखलाने के लिए हुआ।'

श्री मद्भागवत में आये इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव आर्हत धर्म जैन धर्म के अनुयायी थे और वे

ही जैनधर्म के संस्थापक थे। भरत उनके पुत्र थे इसलिए वे भी जैन ही थे। इसलिए यह बात सिद्ध होती है कि भरत के नाम से चला भारत देश की मूल संस्कृति सर्वथा जैनत्वमय ही थी। पीछे लोगों ने स्वार्थ से भारत की मूल संस्कृति में हिंसा की भावना और प्रवृत्ति आ गई हो, यह दूसरी बात तथा विकार है। बाकी भारत की मुख्य और मूल संस्कृति तो जैनत्व ही थी।

भगवान ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को सन्यास धारण करते समय जो उपदेश दिया था वह सब भी वही उपदेश है जो जैन धर्म में वर्णित है और उपदेशों में यह भी वर्णित है कि 'हे पुत्रो! समस्त त्रस और स्थावर जीवों को मर तथा अपने समान समझने की भावना तथा प्रवृत्ति रखना योग्य है'। इस उपदेश से स्पष्ट होता है कि किसी जीव को सताना तक भी नहीं चाहिये।

श्री पंडित गंगाशंकर मिश्र एम० ए० अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक पुस्तक के ५५ वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि 'भागवत में ऋषभदेव की कथा आई है, जिसमें यह बतलाया गया है कि उनके जटिल अवधूत वेष से मोहित होकर आर्हत अर्थात जैन सम्प्रदाय चला। जैनों के यहाँ महावीर के तीर्थंकर माने गए हैं जिनमें एक ऋषभदेव ... हैं। ... कथा

आता ही है इस तथ्य से उनके पुत्र भरत भी जैन ही थे। जैन धर्म की मुख्य वस्तु अहिंसा है इसलिए भारत की संस्कृति अहिंसा के होने में रत्ती भर भी सन्देह नहीं है।

श्री मद्भागवत से ही यह बात सिद्ध नहीं होती कि भगवान् ऋषभदेव के पुत्र ही भरत थे किन्तु अन्य वैदिक पुराणों से भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। उन पुराणों के उद्धरण भी सर्वसाधारण की जानकारी के लिए नीचे दिये जाते हैं —

नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत्ऋषभनामानं तस्य भरतो पुत्रश्च तावदग्रज तस्य भरतस्य पिता ऋषभ हेमाद्रे दक्षिण वर्ष महत् भारत नाम शशास।

वराह पुराण अध्याय ७४

अर्थ—नाभि ने मरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र को पैदा किया उस ऋषभ के सबसे बड़ा पुत्र भरत था, भरत के पिता ऋषभ ने हिमालय के दक्षिण में भारतवर्ष पर शासन किया।

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिं ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥ ५० ॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सो ऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्य
मास्थितः ॥ ५१ ॥
हिमाद्रे दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद्धि भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥ ५२ ॥
(वायु महापुराण पर्व अ ३३)

भावार्थ—अत्यन्त कान्तिमान नाभि ने समस्त क्षत्रियों के पूर्वज और राजाओं में श्रेष्ठ ऋषभ पुत्र को उत्पन्न किया। उस ऋषभ ने भी अपने सौ पुत्रों में सबसे बड़े भरत को राज्य देकर साधु दीक्षा धारण करली। भरत को हिम नामक दक्षिण वर्ष दिया जिससे अर्थात् भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।

नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥१९॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥२०॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रिय महोरगान् ॥२१॥
नग्नो जटी निराहारो चीरध्यानगतोऽहि स।
सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ॥२२॥
निराशस्त्यक्त सन्देह शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।
लिंग पुराण अध्याय ४७

अर्थ—'अब नाभि के वंश का वर्णन करूँगा। महाबुद्धि नाभि ने मरुदेवी में समस्त राजाओं में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण क्षत्रियों द्वारा पूजित ऋषभ को उत्पन्न किया। ऋषभ के सौ पुत्रों में सबसे बड़ा भरत उत्पन्न हुआ। पुत्र प्रेमी ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक

उन भरत से चला भारतवर्ष भी जैन ही होना चाहिए । इसीलि भारत की मुख्य संस्कृति अहिंसा अर्थात् जैनत्वपूर्ण ही सि होती है।

नाभेः पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद्भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।५७।
माहेश्वरखण्डीय कौमार खण्ड अ० ३७

अर्थ—नाभि का पुत्र ऋषभ, ऋषभ से भरत हुआ उसी के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है।

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठ भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते ॥५॥
स राजा प्राप्तराज्यस्तु पितृपैतामहक्रमात् ।
पालयामास धर्मेण पितृवद्रंजयन् प्रजाः ॥६॥
(नारद पुराण पूर्व खंड अ० ४८)

भावार्थ—पहले ऋषभ के पुत्र मुनियों में श्रेष्ठ भरत नाम का राजा हुआ जिसी के नाम से इस भूखण्ड का नाम भारत है। उस पर राजा ने वंश परम्परा से राज्य प्राप्त कर पिता के समान ही धर्म से प्रजा का पालन किया।

तत्पुत्रस्तु ततः नाभिनाम्ना लोकसुखावहः ।
तेनापि च तथा राज्यं पितृवत्परिपालितम् ॥
तस्य पुत्रस्तथा जातो ऋषभाख्यो मुनीश्वरः ।
तस्य पुत्रशतं ह्यासीत् ऋषभस्य महात्मनः ॥
सर्वेषां चैव पुत्राणां ज्येष्ठो भरत एव च ।
नत्र्योगीन्द्रता प्राप्ता वीतरागास्तथाऽभवन् ॥

नतस्य तु विशाल तेज्म नु महामन ।
ऋषभादासीतो जाता कर्मभाग परायण ॥
शतत्रयाणां तथा कर्म कृत्वा मोक्षपरायणा ।
ऋषभरचोरराताना ? हिताय ऋषिसत्तमा ॥
कल्पनि कल्पयामास नरायपि हिताय च ।
तत्रापि भरते ज्येष्ठ खण्डऽस्मिन् राजशीयके ।
तन्नाम्ना चैव विख्यात खड च भारत तत ।
भरत जन्म वेच्छन्ति सर्व सर्वसुखावहम् ॥

शिव पुराण अध्याय ५१

भावार्थ—उनके पुत्र नाभि ने जो कि और हितैषी था अपने पिता के समान ही राज्य का पालन किया । उस नाभि के ऋषभ आदि जो मुनीश्वर होगये थे पुत्र हुए। इस ऋषभ महात्मा के १०० पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़ा भरत था इन सौ पुत्रों में ६ वानराग बन गये । ८१ कर्म मार्ग में तत्पर होते हुए पीछे मोक्ष परायण हो गये । बाकी जो रह गये उनके नाम पर स्वयं ऋषभ देव ने बनाये । भरत को जो खण्ड दिया उसी का नाम भारतवर्ष हुआ । यह भारतखण्ड सब खण्डों में श्रेष्ठ है । यहा जन्म लेने के लिए देव भी तरसते हैं । यह भारत भूमि ही समस्त कर्मों की भूमि है और सुखद है । शिव पुराण में एक जगह यह भी आया है कि—

इय प्रभाव ऋषभोऽवतार शिवस्य मे ।
सता गतिर्दीनव धुर्नवम कथितस्तव ॥

अर्थात्—शिवजी कहते हैं कि ऐसे प्रकार याने ऋषभदेव मेरे ही अवतार हैं। सत्पुरुषों की गति उनसे ही होती है और व दीनबन्धु हैं। ये मेरे नवें अवतार हैं।

जो विष्णु उपासक हैं व तो वैष्णवी पूजा करते ही हैं जिसमें मद्य मांसादि का प्रयोग नहीं होता परन्तु शिवजी स्वयं अपना ही अवतार जब ऋषभदेव को मान रहे हैं तो शिवोपासकों एवं शाक्तों को भी हिंसा नहीं करनी चाहिए परन्तु जो शाक्त लोग हिंसा की पुष्टि करते हैं या हिंसा करते हैं उसमें केवल स्वार्थ ही कारण है। सत्यता का अंश जरा सा भी नहीं।

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण, कूर्म पुराण, आग्नेय पुराण आदि सभी पुराणों में भरत को भगवान् ऋषभ देव का पुत्र बतला कर उन्हीं के नाम से देश का नाम भारत बतलाया है। भगवान् ऋषभदेव जैन थे इसमें भी संदेह नहीं तो फिर भारत की मूल संस्कृति अहिंसा ही होती है।

हमारी वर्तमान सरकार ने भी हमारे देश का नाम हिन्दुस्तान आर्यावर्त, इण्डिया आदि न मानकर सरकारी तौर पर 'भारत' ही माना है। सरकार ने जो हम अपने देश का नाम भारत रक्खा है जो बहुत ही प्रशंसनीय और न्यायसंगत कार्य किया है जिसके लिए वह अभिनन्दनीय है। इसके अतिरिक्त भारत के ध्वज में अशोकचक्र का चिन्ह रक्खा गया है। अशोक, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का पौत्र था। चन्द्रगुप्त जैन ही नहीं था किन्तु उसने जिनदीक्षा भी धारण की थी, जिसे ऐतिहासिक विद्वान्

निसकोच मानते है । जब चन्द्रगुप्त मौर्य था तो उसका पोता अशोक भी जैन ही था कुछ ऐतिहासिक लोगों का मत है कि अशोक पहले जैन अवश्य था परन्तु पीछे बौद्ध हो गया था। यदि इन विद्वानों के सन्तोष के लिए अशोक को जैन होते हुए भी उनके सतोषार्थ बौद्ध भी मान लिया जाय तो बौद्ध धर्म भी अहिंसा का ही उपासक है और उसकी मूल सस्कृति भी अहिंसा ही है।

दुष्यन्त पुत्र भरत से, भारत नहीं

उत्तर प्रदेश राज्य के वन विभाग के उप मंत्री श्री जगमोहन जी नेगी का कहना है कि राजा दुष्यत के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत पडा है । भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से नहीं। श्री नेगी के इस मतव्य का खंडन दैनिक सन्मार्ग के श्री सपादक और सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री प० गगाशकरजी मिश्र एम० ए० बनारस ने किया है जो सन्मार्ग और सिद्धान्त मे प्रकाशित हुआ है । श्री मिश्रजी का लिखना है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत पड़ने मे श्रीमद्भागवत तथा अनेकों पुराणों के वचन आधार भूत है और दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से भारत मानने में कोरी कल्पना है। शास्त्राधार के आगे कोरी कल्पनाओं का कोई मूल्य नहीं ठहरता।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् अनेक पुरातत्व सबधी पुस्तकों के

लेखक, काशी इण्डोलोजी विभाग के मुख्य कार्यकर्त्ता श्री० डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल की भी पहले यही कल्पना थी कि दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से ही भारत पड़ा है परन्तु आपको अपनी यह कल्पना भ्रांति मूलक और अशुद्ध जची फलत उस भ्रान्ति मूलक कल्पना के विरोध में अपना एक लेख 'सिद्धान्त पाक्षिक' पत्र बनारस के १२ वें वर्ष के २४ वें अक में ता० (३-७-५६) मे प्रकाशित कराया है जिसे ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जाता है—

'सिद्धान्त के पिछले अकों में 'भरत और भारत' शीर्षक से श्री गङ्गाशङ्करजी मिश्र ने बहुत ही उपादेय और प्रामाणिक टिप्पणी लिखी है। उनका अभिप्राय यह है कि 'पुराणों की साक्षी के अनुसार भारतवर्ष का नाम पहिले 'अजनाभवर्ष' था और बाद मे ऋषभपुत्र भरत के नाम से यह 'भारतवर्ष' कहलाया। श्री मिश्रजी ने इसी प्रसङ्ग मे यह लिखा है कि 'ऐतिहासिक शोध करने वाले कई विद्वानों ने महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत से भारत या भारत वर्ष नाम की उत्पत्ति मानी है, जो ग्रन्थों से प्रमाणित नहीं और इसलिए अशुद्ध है।

इस सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि 'मिश्रजी का कथन सत्य है। दौष्यन्ति भरत के नाम से भारतवर्ष नाम की उत्पत्ति 'महाभारत' के कुछ प्रमाणों के अनुसार मैंने 'भारत की मौलिक एकता' ग्रन्थ मे सुझायी, पर मुझे यह स्वीकार करते हुए प्रसन्नता है कि 'मिश्रजी का पक्ष सत्य है और यह मेरी भ्रान्ति थी जो

भागवत ५।४।६ के प्रमाण को (येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीन् येनेदं वर्षं भारत मिति व्यपदिशन्ति) दौष्यन्ति भरतपरक समझ कर 'भारत की मौलिक एकता' पृ० २४ की टिप्पणी में वैसा लिख दिया। परन्तु भागवत का प्रमाण ऋषभपुत्र भरत के लिए ही है।

इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि जहाँ तक भारतवर्ष इस नाम का सम्बन्ध है, यह पुराणों की मान्यता के अनुसार ऋषभपुत्र महायोगी से भरत से ही सम्बन्धित था। दौष्यन्ति भरत इसके बहुत पीछे हुए और वे चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट थे। उनके नाम से भरत कुल कहलाये। इसी भारत कुल में कौरव पाण्डव हुए भरताद् भारती कीर्ति येनेदं भारत कुलम्। अपरयेच पूर्वे च भारता इति विश्रुता (आदिपर्व, पूना ६२।४९)

'वायुपुराण' में निम्नलिखित उल्लेख आया है— शकुन्तलाया भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम् (वायु ९९।१३४)। इससे यह भ्रान्ति हो जाती है कि शकुन्तला पुत्र भरत के नाम से हुआ, किन्तु यहां 'भरत कुल' का विशेषण है, जैसा कि ऊपर 'महाभारत' में आया है। उस 'वायुपुराण' में ही अन्यत्र ऋषभपुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष शब्द की व्युत्पत्ति मानी गयी है— ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः। सोऽभिषिच्याथ भरत पुत्र प्राव्राज्यमास्थितः॥ हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। तस्माद् तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना . . . (वायु० ३३।५१-५२)।

इससे ज्ञात होता है कि मेरु के दक्षिण में स्थित प्रदेश पहले हिमवानवर्ष कहलाता था, वही ऋषभपुत्र भरत के नाम से सम्बन्धित होकर भारतवर्ष कहलाया। पुराणों की यह साक्षी स्पष्ट है और मान्य है। मैं श्री मिश्रजी का आभारी हूँ कि उनके कारण मुझे इस स्पष्टीकरण का अवसर प्राप्त हुआ।'

इसके अतिरिक्त पूना के डाक्टर आर. बी. परमानंद बड़े भारी संस्कृतज्ञ, साहित्यज्ञ और पुरातत्व वेत्ता सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपने पर्याप्त अनुसंधान के साथ एनल्स ऑफ भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के १६५५ के अंक में हिंदुस्थान का नाम भारत कैसे पड़ा, इस विषय पर एक लेख लिखा है, जिसका सारांश इस प्रकार है —

हिंदुस्थान का भारत यह नाम शकुन्तला व दुष्यंत के पुत्र भरत से पड़ा हुआ है ऐसा माना जाता है। परन्तु प्राचीन वाङ्मय में, 'पुराण प्रमाण ग्रंथ हैं, इन पुराणों में यह बात देखने में नहीं आती है। ई० सन् की छठी शताब्दी में बाण ने कादम्बरी लिखी। उसमें उन्होंने हेमकूट पर्वत प्रदेश का वर्णन करते हुए भारतवर्ष ऐसा नाम लिखा है। परशियनों ने सिंधु नदी के पास के लोगों को हिन्दू ऐसा उल्लेख किया है। ग्रीक लोक सिंधु नदी को इंदू कहते हैं।

सब पुराणों का काल करीब ६ ठी शताब्दी है। सब पुराणों में एक समान बात आती है सिर्फ ब्रह्माण्डपुराण में इस देश को पुत्र भरत से भारत नाम पड़ा ऐसा मिलता है। वायुपुराण,

मत्स्यपुराण व मार्कण्डेय पुराण मे दूसरा ही वर्णन है। इन पुराणों में भू विभाग का स्पष्ट वर्णन मिलता है। तत्कालीन स्थानों के ६ विभाग बताये गये हैं। उनमें नवाँ 'भरतक्षेत्र' है। जिसकी मर्यादा दक्षिण में कन्याकुमारी तक व उत्तर में किरात पवतश्रेणी गंगोत्तर तक है। ऐसा मत्स्यपुराण अध्याय ११४ १८ १४ में भारत का ... मनस्य द्वीप ऐसा किया है। एशिया खण्ड के पूर्वार्द्ध को 'जम्बूद्वीप' ऐसी संज्ञा पुराणों में की हुई है। मार्कण्डेय पुराण में प्रियव्रत मनूने अग्निधराको जम्बूद्वीप दिया ऐसा उल्लेख है। अग्निधरका पुत्र नाभिऔर नाभिका पुत्र ऋषभ। यही ऋषभनाथ जैनों के प्रथम तीर्थकर हैं। 'हिम' नामक दक्षिण प्रदेश का राज्य ऋषभराजा ने अपने पुत्र भरत को दिया था। भरत इस प्रदेश के चक्रवर्ती थे। इससे इस प्रदेश को 'भारत' यह नाम दिया गया। भागवत पुराण व अग्नि पुराण में भी यही कथन है।

इन्होंने एक बार पर्जन्य (वृष्टि) अटकाई थी तब अपने यौगिक सामर्थ्य से ऋषभ ने पृथ्वी पर पर्जन्य वृष्टि की थी ऐसा उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है। अन्त में श्रीयुत करमार कर लिखते हैं कि—

१—मनु के वंश के बसती स्थान का नाम मानद्वीप पड़ा।

२—हिमाचल की दूसरी ओर के बस्ती का नाम 'अननान' पड़ा।

३—मानव प्रदेश को अजाननी अथवा अजान नाम दिया गया।

४—मानव वर्ष का उत्तर किनारा जो हिमाचल प्रदेश है उसको हिमवर्ष नाम दिया गया जो सत्ताधारी था।

५—मनु पुत्र ऋषभ ने ऐहिक क्षणभंगुरत्व जानकर भरत का राज्याभिषेक कर दीक्षा लेली। भरत ने वात्सल्य पूर्वक अनेक वर्ष राज्य किया अतः उसका नाम भारतवर्ष पड़ गया। वस्तुतः भारत का ऋषभवर्ष नाम पड़ना था, लेकिन ऋषभ को यह स्वीकार नहीं था। ऋषभ जैनों के प्रथम तीर्थंकर हैं। जैनों की इस महान् विभूति के नाम से हिन्दुस्तान का भारतवर्ष नाम पड़ा है यह निर्विवाद है।

६—जैन चक्रवर्ती भरत को यह मिला हुआ बड़प्पन कुण्ठल को रुचिकर न हुआ अतः उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये तथा जो चक्रवर्ती था ऐसे दुष्यंत पुत्र भरत से नाम पड़ा ऐसा असत्य प्रचार किया गया। दूसरे पुराणों में यह बात मिलती ही नहीं है।

बहुत पुराणों में तो भारत भारत यह नाम ऋषभ तीर्थंकर के पुत्र भरत से पड़ा है। ऐसा स्पष्ट कथन है।"

इससे यह सिद्ध है कि भारतवर्ष के मूल अधिकारी जैन हैं।

संस्कृति और सभ्यता

अंग्रेजी भाषा के कलचर (Culture) शब्द का अनुवाद यदि संस्कृत या हिन्दी के शब्द में हो सकता है तो 'सभ्यता' हो सकता है। संस्कृति शब्द का अनुवाद Culture तो किसी भी हालत में नहीं हो सकता। भारतीय बोलचाल, खान पान,

वेषभूषा, नृत्यगान, रहन सहन आदि सब भारतीय सभ्यता हैं, भारतीय संस्कृति नहीं। आजकल इस सभ्यता को ही संस्कृति का रूप दिया जा रहा है और संस्कृति के मूल तत्व और अर्थ को भुलाया जा रहा है।

सभ्यता देश कालादि भेद से बदलती रहती है जैसे यवन राज्य में बोलचाल में उर्दू फारसी अरबी के शब्दों का प्रयोग अधिक होता था। इसी प्रकार वेषभूषा आदि भी दूसरी तरह की रही। अंग्रेजी राज्य में उसमें कुछ परिवर्तन हुआ तो कांग्रेस राज्य में भी कुछ परिवर्तन हुआ तथा आगे होगा। [illegible] काल भेद से भी वेषभूषा आदि में परिवर्तन हो जाता है जैसे गर्मी की ऋतु में मलमल का कपड़ा पहना जाता है [illegible] दिनों में गरम कपड़े परन्तु देश काल के भेद से [illegible] संस्कार या इनके अपर नाम धर्म में परिवर्तन नहीं [illegible] तो संस्कृति में परिवर्तन अस्वाभाविक है और [illegible] प्रभाव के कारण हो भी जाय तो मूलधारा का [illegible] है। और भय ही नहीं किन्तु [illegible] हो जाता है।

स्वतन्त्रता का उद्देश्य अपनी संस्कृति [illegible] केवल खाने पीने मौज मजे [illegible] के प्रतिबंध के अभाव को ही [illegible] लोकायतिक स्वतन्त्रता तो सर्वदा [illegible] यवनराज्य औ[illegible]जी राज्य में [illegible]

की स्वतन्त्रता मे क्या बाधा थी ? ये सब चीजें तो उस समय भी उपलब्ध होती थीं परन्तु उन राज्यों मे यही बाधा थी कि कि हमारी संस्कृति सुरक्षित नहीं थी और वह नष्ट होती जारही थी इसलिए हमें स्वतन्त्रता अपेक्षित थी। खेद यह है कि परकीय प्रतिबंध हट जाने पर भी हमारी संस्कृति उन राज्यों से भी शत गुणे मात्रा मे असुरक्षित और नष्ट भ्रष्ट होती जा रही है।

अहिंसा के नारे जरूर लगते हैं परन्तु हिंसा दिन दूनी रात चौगुनी बढ रही है। झूँठ का भी कोई ठिकाना नहीं, और तो क्या ? आजकल झूँठ और दंभ को ही राजनीति में विशेष कला समझी जाती है। असभ्य चोरियाँ तो चल ही रही थी किन्तु सभ्य चोरियों में भी आशातीत उन्नति और प्रगति हुई है व्यभिचार का भी अनेक सभ्य और संघटित प्रकारों से बोलबाला है तो व्यक्तिवाद बड़े वेग से प्रगति कर रहा है।

कहा जाता है कि भारत प्रगति कर रहा है। संभव है कि यह प्रगति मानव के भौतिक जीवन के साधनों मे हुई हो परन्तु मानव का आध्यात्मिक जीवन तो विनाश की ओर ही प्रगति शील है। यदि भौतिक जीवन के साधनों में परलोय न्याय से प्रगति मान भी ली जाय तो ऐसी प्रगति से देश सुखी और समृद्ध नहीं हो सकता जब तक कि उसका नैतिक स्तर अथवा आध्यात्मिक जीवन समुन्नत न हो। आज के मानव में सतोष, निराकुलता और अनुशासन और विनय आदि नाम की कोई चीज इसलिए

यवन राज्य में भी नहीं लगा यह भी लगाकर उसकी रिपोर्ट सरकार द्वारा प्रकाशित होती है। प्राणिवध और मांसोत्पादन को उद्योग बना लाया जाकर उसके लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसी प्रकार मछली उद्योग आदि की स्थापनाएँ हो रही हैं। इन्हीं घोर पापों से अति वृष्टि अनावृष्टि आदि ईतिभीतियाँ आती हैं। परन्तु हिंसक नास्तिक लोकयातिक लोगों का इन आधिदैविक कारणों की कारणता पर विश्वास नहीं।

जब मनुष्य की और राष्ट्र शासकवर्ग की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तो पाप पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं और जब पापों से घड़ा भर जाता है, तो वह फूटे बिना नहीं रहता है।

नास्तिक कौन होता है—

जैन धर्म की मूल भित्ति सदाचार पर आधारित है जैन धर्म केवल भक्तिवाद पर ही आधारित नहीं किन्तु उसका मूल ध्येय त्याग, संयम और सदाचार है। यद्यपि हिंसा का सभी धर्मों में निषेध है परन्तु जैसा हिंसा और अहिंसा का लक्षण जैन सिद्धान्त में है, वैसा कहीं देखने में नहीं आता। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ भी अहिंसा से स्वार्थ में बाधा आई है वहीं जैनेतर धर्मों ने हिंसा को अपना कर आ उसे अहिंसा ही मान लिया है। जैनधर्म ने हिंसा का लक्षण किया है कि जिससे अपने परिणामों में अथवा द्रव्य में राग द्वेषादि विकारी भावों की उत्पत्ति हो उसी का नाम हिंसा और इनकी उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

जिस प्रकार मनुष्य, गृहस्थ और साधु दो भागों में विभक्त है इसी तरह अहिंसा भी पात्र भेद से दो भागों में विभक्त है। एक साधूचित अहिंसा और दूसरी गृहस्थोचित अहिंसा। साधूचित अहिंसा का दूसरा नाम सर्वदेश अहिंसा है और गृहस्थोचित अहिंसा को एक देश अहिंसा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जैनधर्म में ऐसी परस्पर विरोधी बातें भी नहीं हैं।

जैन धर्म में साधु सर्वदेशीय हिंसा की निवृत्ति के लिए ही नग्न दिगम्बर रहते हुए अत्यन्त कठोर संयम जीवन बिताता है। गृहस्थ विरोधी आरम्भी और उद्योगी कार्यों को बहुत ऐसी सावधानी से करता है कि जिससे त्रस जीवों की हिंसा न हो सके और सकल्प पूर्वक तो वह किसी को पीड़ा पहुँचाने का अधिकार ही नहीं रखता। जब अपने प्रति राग भाव होता है तब इसी 'स्व' के प्रति ममत्व से वह परजीव को पीड़ा पहुँचाकर अपना मतलब बनाता है। स्व के प्रति राग ही पर के प्रति द्वेष है।

जैन धर्म का इतना परमोच्च और आदर्श मानना पूर्ण सिद्धान्त होते हुए भी वैदिक लोगों ने जैन लोगों को नास्तिक कहना प्रारम्भ किया। जैनों को नास्तिक बतलाने या मानने में कारण मनुस्मृति का "नास्तिको वेदनिंदकः" यह वाक्य है।

कोई भी अहिंसा प्रेमी वेद शास्त्रों को इसी लिए स्वीकार करने में असमर्थ है कि उनमें जगह जगह हिंसा का विधान है। अश्वमेध गोमेध, नरमेध यज्ञादि इतना [illegible]

यज्ञ यागादि में पशु हिंसादि का समर्थन अपनी स्वार्थ की सिद्धि के लिए है। वे स्वार्थ कई प्रकार के है। जैसे स्वर्गेच्छा, पुत्रेच्छा, धनेच्छा आदि। जहाँ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे के प्राणों की हत्या भी की जा सके ऐसे वाक्यों को कोई भी अहिंसक, शास्त्र के रूप में मानने को तैयार नहीं हो सकता है। इस पर भी इस हिंसा के समर्थन के लिए यह कहना कि "वेद विहिता हिंसा, हिंसा न भवति" अर्थात् वेद में कही हुई हिंसा, हिंसा नहीं होती, आश्चर्य है।

वेद न मानने वाले को ही नास्तिक कहा जाय तो वेद की चार शाखायें और ११७० उपशाखायें है। उपशाखाओं को आर्य समाजी नहीं मानते तो वे भी नास्तिक ठहरते है। स्वयं मनु स्मृतिकार ने चारों वेदों में सामवेद की ध्वनि को अपवित्र माना है जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है "सामवेद स्मृत पित्र्य तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनि" अध्याय ४ श्लोक १२४। गीता में चारों वेदों में सामवेद को प्रधान माना है। तीन को अप्रधान मानना भी स्तुत्याभास ही है। यथा 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' अध्याय १० श्लोक २२।

गीता के अध्याय ८ श्लोक २६ द्वारा शुक्ल और कृष्ण दोनों गतियों का विधान किया गया है। आगे जाकर वेदादि पाठकों का कृष्ण मार्ग (काला रास्ता) बतलाकर उसे निःसार और हेय बतलाया है। ११ वें अध्याय के ४३ वें श्लोक द्वारा वेद अध्ययन को अकिंचित्कर तथा गौण बतलाया है।

नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टु दृष्टवानसि मां यथा।
गीता (११ ५३)

इसी प्रकार ४७ वें श्लोक द्वारा भी वेद ग्रयन को निःसारता ही बतलाया है। इसी गीता के १५ वें अध्याय में प्रारम्भ में ही वेद को संसार रूपी वृक्ष के पत्ते बतलाकर असंगता (दिगम्बरत्व) रूपी शस्त्र से पत्ते सहित उस संसार रूपी वृक्ष को काटने के लिए उपदेश दिया है और अव्ययपद की प्राप्ति मान मोह काम द्वेष और परिग्रहादि से रहित होने पर ही बतलाइ है। यथा—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषय प्रवाला।
अधश्च मूलान्यनुसततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥२॥
रूपमस्येह तथोप लभ्यते नान्तो न चादिर्नच सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थ मेनं सुविरूढ मूल असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥
अत पर तत्परिमार्गित व यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्य पुरुष प्रपद्ये यत प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा जितसग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्तकामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख सज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत् ॥५॥

इस प्रकरण में यह बात भी बतलाई है कि अव्यय पद (मोक्ष पद) वह है जहाँ से वापस आने का कारण नहीं

परन्तु वेदों के अध्ययन तथा वेदोक्त यज्ञयागादि से स्वर्ग लाभ ही बतलाया है। स्वर्ग से तो वापस पुण्य क्षीण होने पर आना ही पड़ता है जैसा कि गीता के ६ वें अध्याय के २१ वें श्लोक से सुस्पष्ट है।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि—हे अर्जुन! ये वेद तो त्रैगुण्य विषयक हैं। तू त्रैगुण्य रहित हो। त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन! अ, २-४५॥

गीता में यहां तक वेदों के बारे में कहा है कि—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।२ ४२।

हे अर्जुन! वेदों के ही व्याख्यान में तत्पर जो वादी यह कहते हैं कि स्वर्ग के अतिरिक्त कुछ नहीं है वे मूर्ख हैं और वे केवल लुभाने वाली वाणी बोलते हैं। उनकी यह वाणी असली नहीं किन्तु पुष्पित और पल्लवित है।

ऋग्वेद में लिखा है कि—जो यज्ञरूप नौका पर सवार न हो सके वे कुकर्मी हैं, ऋणी हैं और नीचावस्था से बने हुए हैं।

मन १० सू, ४४ म० ६

इसका न्तर उपनिषत्कार मुण्डकोपनिषत् में लिखते हैं कि—

हे वत्स! यह तेरी यज्ञरूपी नौका तो पत्थर की नौका है और यह भी जीर्ण शीर्ण (टूटी फूटी) है। तुम जैसे मूर्ख जो उसे कल्याणकारक समझ कर आनन्दित होते हैं, वे संसाररूपी सागर में जन्म मरणरूप गोते खाते रहते हैं।

यागाश अपने शास्त्रों में घुसेड़ कर अपनी अनुयायिनी जनता को गुमराह किया।

नास्तिको वेद निन्दक यदि इस वाक्य को यों बोला और लिखा जाय कि "नास्तिको वेदनिन्दक" अर्थात् वेद निंदक कौन नहीं है तो ठीक हो सकता है।

नास्तिक शब्द का अर्थ तो समस्त शास्त्रों के आधार पर यही होता है कि जो परलोकादि (स्वर्ग मोक्ष नरक आदि) न मानता हो वह नास्तिक है। जैना की जैसी परलोक में श्रद्धा है वैसी किसी की नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो सच्चे आस्तिक ही जैन हैं। परन्तु खेद है कि बहु संख्या के आधार पर आस्तिकों को नास्तिक और नास्तिकों को आस्तिक बतलाया जाकर जन शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है।

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत के इस धर्मक्षेत्र भारतवर्ष देश में जो पहले घोर हिंसा का साम्राज्य फैला और खून की नदियाँ बहीं वह सब वेदों का ही प्रभाव था। इस हिंसा को यदि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध न रोकते और उनके उपदेशामृत की धारा न बहती तो आज जगह जगह यज्ञ यागादिरूप कसाई खाने दृष्टिगोचर होते। आज भारत से मुसलमान तो अधिकांश चले गये किन्तु करोड़ों वैदिक कहलाने वाले भारतीयों में २४ करोड़ के करीब पशुओं को खा रहे हैं। वैदिक कहलाने वाले थोड़े से वैदिक ही मांसभोजी नहीं हैं। बाकी तो सभी मांस खाते हैं। बौद्धों को भी यदि कोई

माम खिलादे तो खा लेते हैं एवं मृत पशु को भी ये लोग खा जाते हैं। और तो क्या ? अनेक नामांकित वैदिक सन्यासी भी वदोक्त हिंसा को वैध हिंसा मानते हैं। उनकी दृष्टि में आज नरमेध यज्ञ किया जाकर मनुष्य बली होमना पड़े तो वैध या उचित है। आज जो प्रचुर मात्रा में गोहत्यादि रूप पशुवध होता है और उसे जब रोकने को कहा जाता है तब कितने ही धार्मसी जन यह कहते हैं कि गोवध तो वेदों और पुराणों से भी स्वीकृत या मान्य है और प्रमाण भी देते हैं तो मस्तक नीचा हो जाता है।

वास्तव में सच्ची भारतीय संस्कृति अहिंसा है क्योंकि भगवान ऋषभदेव तथा उनके पुत्र भरत से यह चली है। भगवान् ऋषभदेव दिगंबर जैन धर्म के प्रकाशक या उद्धारक थे। यही संस्कृति भारत में करोड़ों वर्षों से थी। परन्तु उसे जैनों की बतलाई जाकर तिरस्कृत की जाती और उसकी मखौल भी उड़ाई जाती है। जैनों के जितने आचरण जैसे रात्रि भोजन त्याग जल छान कर पीना आदि हैं, उन सबका उल्लेख और समर्थन वैदिक ग्रन्थों में भी है परन्तु उन्हें जैनों का समझ तिरस्कृत और उपेक्षित किया जा रहा है। वास्तव में सच्ची भारतीय संस्कृति को निर्मूल करने में जितना वैदिक संप्रदायवादियों का हाथ रहा उतना और किसी का नहीं।

जैनों के सिर, अहिंसा का अर्थ कायरता करके कायरपन थोपा गया परन्तु जैन धर्मोक्त अहिंसा का तत्व नहीं समझा

गया। जैनों में बड़े २ राजा और सम्राट् हुये हैं। जिन्होंने संसार में हजारों लाखों शत्रुओं को मारा है जो विरोधी हिंसा में गर्भित है। गृहस्थ जैन विरोधी हिंसा का अधिकार रखता है परन्तु विरोध के नाम पर सावधानता के बिना चाहे जिसको मार डालना न्याय नहीं है। विरोध में जितना अपराध हो उतना ही दंड न्याय संगत है। यह क्या न्याय है कि किसी पशु पक्षी द्वारा जरासी हानि पहुँचाने पर उसे मारने से कम सजा न दी जाय। यदि कोई मक्खी आपके शरीर पर बैठती है तो उसे मार डालना दंड नहीं किन्तु उतना ही दंड पर्याप्त कि उसे पंखी या हाथ से उड़ा दिया जाय। सर्प को देखते ही मार डालना यह कौनसा न्याय? यदि यह पक्का निश्चय हो जाय कि मुझे खाने को ही आ रहा है तो उस समय जो भी उचित हो प्रतिकार किया जाय। उससे बचकर कहीं भगा भी जा सकता है। उस सर्प को सपेरे आदि द्वारा निर्विष भी किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य पशुओं आदि के विषय में भी विचार पूर्वक ही सब बात करनी चाहिये। इसी का नाम भारतीय संस्कृति है।

संस्कृति की छिन्न भिन्नता के कारण—

भगवान् ऋषभदेव उस समय सबसे बड़े राजा थे। जब वे संसार से विरक्त होकर आत्मसाधना के लिए वन को चले गये तो उनके साथ हजारों छोटे मोटे राजा भी केवल स्वामिभक्ति या खुशामद से वन को चले गये और जो वे करने लगे सो ही

धे करने लगे परन्तु तपस्या की कठोरता से उनके अनुसार साधना न कर सके और सभी विचलित हो गये। बाद में [illegible], व [illegible] शासन पर [illegible] इसलिए यहाँ नाना प्रकार के वेशों को धारण कर बहुत मत [illegible] सम्प्रदायों और मतों की स्थापना कर ली गई।

जैसे प्रारम्भ में [illegible] राजनैतिक [illegible] ज्यों ज्यों लोगों की [illegible] त्यों त्यों [illegible] होती गई त्यों त्यों ही अनेक [illegible] बन गई। आज तो साधारण ने सम्प्रदायवाद [illegible] है। जगह जगह से अनेक अथवा [illegible] संख्या में छोटी मोटी संस्थायें दिखाई देती हैं [illegible] ऋषभदेव के सिद्धान्त से अलग होकर [illegible] मतों ने जन्म लिया। यही पारस्परिक [illegible] का पहले भी कारण बना और आज भी [illegible] बढ़ने में कारण है।

इस परस्पर मतभेद और [illegible] ने ही देश को विभाजित किया। [illegible] नेता लोग राज्य शासन में बहुसंख्यक [illegible] पदों के विभाग में अपना प्रभाव [illegible] भी नहीं होती। उन्होंने अपने [illegible] सुखी जीवन में बाधा समस्या [illegible] की ओर यह [illegible]

राज्यशासन की आधारशिलायें अटल सिद्धांत ही होनी चाहिएँ। अटल सिद्धांत अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि पर ही पूर्णतः आधारित हो सकते हैं। बहुसम्मति के आधार पर आधारित राज्यशासन में जब अल्पसंख्यक समुदाय अपने धर्म या सिद्धांत का पालन नहीं कर सकते तो वे विरोधी बन जाते हैं और उनके दमन के लिए सत्तारूढ़ दल को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है तब संघर्ष छिड़कर शांति भंग हो जाती है और सभी लोगों के हृदय से तत्काल लाभ के लिए अहिंसा हिंसा के रूप में परिणत हो जाती है।

जब अहिंसा से देश में हिंसा आती है तो राजनीति से धर्म का सम्बन्ध टूट जाता है और जब धर्म शून्य राजनीति हो जाती है तो केवल भौतिकवाद पनपता है और आत्मवाद नष्टप्राय हो जाता है। जो आत्मवादी होते हैं उनको भी मजबूरन पर भौतिकता का आश्रय ही लेना पड़ता है और जब पूरा भौतिकवाद सर्वत्र ठसाठस भर जाता या फैल जाता है तभी घोर भ्रांति मचकर प्रलय का सा दृश्य उपस्थित कर देती है।

राजनीति धर्म के आश्रित हो तब तो देश का कल्याण होता है और उसमें सुख शांति बनी रहती है परन्तु धर्म, राजनीति के आश्रित हो जाय तो देश में अमङ्गल, अकल्याण और दुःख की परम्परा स्थापित हो जाती है। ज्यों ज्यों राजनीति के आश्रित धर्म रहा है त्यों त्यों ही दुःख परम्परा बढ़ी है।

जैसे 'अहिंसा परमोधर्म' का सिद्धान्त महान् आदर्श और मर्यादा है परन्तु ज्यों ज्यों मानव ने हिंसा को अपने स्वार्थ के लिए अपनाई त्यों त्यों धर्मगुरु कहलाने वालों ने भी वैसे ही शास्त्र बना डाले जिनसे कि उन लोगों का स्वार्थ सिद्ध होता था। वे यदि मांसभक्षी थे वे यज्ञ में होमने वाले थे तो वैसी ही बातों के पोषक वाक्य भी शास्त्रों में लिख दिये या वैसी ही बातों के प्रतिपादक शास्त्र गढ़ बना डाले गये, फलतः धर्म अधर्म की पहचान जाता रहा। जिस बात को एक धर्म कहता है उसे दूसरा अधर्म मानता है। ऐसी अवस्था में राज्य के साथ साथ जनता का [illegible] होकर विचार शून्य बन जाती है जनता के मन बुरे होने का जिम्मेवारी राज्य पर होती है परन्तु जब राज्य स्वयं धर्म के [illegible] हो तो जनता वैसी न बने, यह नहीं हो सकता [illegible] दोनों का लक्ष्य केवल भौतिक ही रह जाय तो [illegible] प्रचलित राज्य की रक्षा करना नहीं चाहती। [illegible] आवेगा, वह कैसा आवेगा यह यह न सोच [illegible] है उसे मिटा देने में ही तत्पर रहती है।

भारत देश की वास्तविक [illegible] है, इसका भी [illegible] नहीं रहा। यदि कोई बतलाता है [illegible] बतलाने वाला [illegible] धर्म से सम्बन्ध होने के कारण [illegible] और उपेक्षा [illegible] है तब क्या संस्कृति है [illegible]

आज बड़ बड़ विद्वान् भी धर्म को राजनीति के आश्रित बनाते जाकर देश में अवांछनीय अभारतीय वातावरण उपस्थित कर रहे हैं। राज्यशासक जो भी अपनी नीति बनाते हैं उसमें अपना कुछ न कुछ स्वार्थ निहित होता है साथ में वे तात्कालिक स्वार्थ के आगे तात्विकता को भी बहुत कम महत्व देते हैं। जिससे वास्तविक संस्कृति, जिसका अपर नाम धर्म है नष्ट हो जाती है। जैसे भारत से अंग्रेजों का राज्य हटाने के लिए उस समय के स्वराज्य नेताओं ने छात्रों को अंग्रेजों के विरुद्ध तैयार किया, अनशन सत्याग्रह, हड़ताल आदि साधनों को अपनाया परन्तु जब उनका राज्य शासन हो गया तो इन सबको बुरा बतलाया जाकर इन पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया जाता है। और भी ऐसी अनेक बातें हैं जो उस समय की नीति आज की अनीति में शामिल हैं।

आज जो राजनीति या लोकनीति चल रही है उस पर किसी का नियन्त्रण नहीं वह अनियन्त्रित है उस पर नियन्त्रण होना चाहिये, धर्म अथवा संस्कृति का। परन्तु उस पर धर्म और संस्कृति का नियन्त्रण नहीं किन्तु आज तो धर्म अथवा संस्कृति राजनीति से नियन्त्रित होकर पिंजरे में बन्द है।

उपसंहार

भारत के सर्व प्रथम आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव भरत चक्रवर्ती एवं तदुत्तर व्यक्तियों के इतिहास से यह सुस्पष्ट है कि भारत की मूल संस्कृति त्याग संयम और सदाचार है। पूर्वकाल में चक्रवर्ती राजा महाराजा तक पुत्र को राज देकर साधु बन जाते थे। इन्हीं घटनाओं से भारत सारे विश्व का गुरु रहा। त्याग, संयम सदाचारादि का नाम ही संस्कृति (कल्चर) है। त्याग संयम सदाचारका चरमोत्कर्ष जैनधर्म में है। इसलिए भारत की मूल संस्कृति जैनत्व प्रधान थी। अनाचरण और पाप शोषण से यह संस्कृति घटती चली गई, और आज तो सर्वथा ही शोचनीय दशा में है।

देश में स्वतन्त्रता की आवश्यकता अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए ही होती है। हमारा भारत स्वतन्त्र हुआ है तो प्रत्येक निवासियों का कर्तव्य है कि अपनी संस्कृति का संरक्षण व प्रचार करें। इसके लिए परमावश्यक है कि जैन संस्कृति का प्रचार करने में पूर्ण प्रयत्न किया जावे। जनता और शासक दोनों ही का सन्मार्ग पर चलने को जोर दिया जाय। तब ऐसा हो सकता है कि संस्कृति-रक्षा की चिन्ता स्वतन्त्र भारत के पहले संचालकों को हो। इन्हीं व्यक्तियों का दूसरों पर प्रभाव पड़ सकता है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

द्वितीयवार ५०००
मूल्य चार आना

२५) रु० की १०० प्रति मँगाकर
शिक्षित लोगों के हाथ में
दीजिये ।